P: ISSN NO.: 2321-290X RNI : UPBIL/2013/55327 VOL-6* ISSUE-10* June- 2019
E: ISSN NO.: 2349-980X **Shrinkhla Ek Shodhparak Vaicharik Patrika**

मनोविश्लेषणात्मक दृष्टिकोण से 'महासमर' के पात्रों का अध्ययन

सारांश

कृष्ण–कथा भारतीय समाज में श्रद्धा और प्रेरणा का विषय रही है। भारतीय संस्कृति की तरह भारतीय समाज की भी निजी विशेषताएँ हैं, लेकिन आधुनिक युग में वैज्ञानिकता के प्रचार–प्रसार के कारण हमारा समाज परिवर्तन के दौर से गुजर रहा है। पिछले कुछ दशकों में यह परिवर्तन समाज के प्रत्येक क्षेत्र में तेजी से हुआ है, जिससे हमारे सामाजिक मूल्य, परम्परायें तथा मर्यादाएँ प्रभावित हुई हैं। इस परिवर्तन का सबसे अधिक प्रभाव मानव के मन और मस्तिष्क पर पड़ा है, जिसके फलस्वरूप उसके व्यक्तित्व, सम्बन्ध तथा सामाजिक स्थिति में बहुत से दोष पनपने लगे हैं। नरेन्द्र कोहली ने अपनी कृष्ण–कथात्मक उपन्यास–शृंखला 'महासमर' में मनुष्य के मन में आए विकारों के साथ–साथ ज्वलंत सामाजिक समस्याओं को आज के सन्दर्भ में उठाने का स्तुत्य प्रयास किया है।

मुख्य शब्द : स्तुत्य, प्रकारांतर, अन्तर्विरोध, आबद्ध।

पूनम काजल
असिस्टेंट प्रोफ़ेसर,
हिन्दी विभाग,
हिन्दू कन्या महाविद्यालय,
जींद

प्रस्तावना

आज भारतीय समाज में व्यक्तिवादिता का प्रभाव बढ़ता जा रहा है जिस कारण सामाजिकता की भावना मन्द होती जा रही है और वैयक्तिक स्वातन्त्र्य, अर्थ–केन्द्रियता तथा सत्ता लोलुपता बढ़ती जा रही है। अपने ही संकीर्ण घेरे में घिरा व्यक्ति निराशा और घुटन को झेलता हुए विवश और बेबस नज़र आता है। भौतिकता के प्रभावस्वरूप मनुष्य एक मशीन में तबदील हो गया है। महत्वाकांक्षाओं ने व्यक्ति को स्वार्थी बनाया है और बार–बार की असफलताओं से निराश होकर वह घुटन, कुंठा, निराशा व तनाव का शिकार हुआ है। उसकी अस्मिता विवशता और बेबसी को सहते–सहते टुकड़े–टुकड़े हो गई है। संघर्षशीलता, विवशता, निराशा, द्वेष, घृणा, द्वन्द्व, कुण्ठाग्रस्तता इत्यादि सहज मानव–जीवन के पथ में आने वाले अवरोध हैं। कुल मिलाकर 21वीं सदी के मानव में अनेक त्रुटियाँ व दुर्बलताएँ दिखाई देती हैं।

अध्ययन का उद्देश्य

आज प्रत्येक व्यक्ति की दृष्टि निजी स्वार्थ तक केन्द्रित है। निरन्तर स्वार्थ की भावनाओं के पनपने के कारण राष्ट्रीय विकास पर इसका प्रतिकूल प्रभाव पड़ रहा है। व्यक्तियों के पारस्परिक सम्बन्धों में भी स्वार्थपरता के कारण विच्छेद की स्थिति आ गई है। इस सम्बन्ध में शशि जेकब लिखती हैं– "साधारणतः लोग अपने–अपने वैयक्तिक कर्म में ही अधिक व्यस्त रहते हैं। इस व्यवस्था के मध्य वे अच्छा समाज तथा अच्छी व्यवस्था के निर्माण की ओर तनिक भी ध्यान केन्द्रित नहीं करते, इस ओर प्रयत्न ही नहीं करते। इस प्रकार वे अनजाने ही अपने सामाजिक अकर्म से एक दुष्ट एवं भ्रष्ट व्यवस्था बनाने में प्रकारांतर से सहायक होते हैं।"[1]

'बंधन' उपन्यास की सत्यवती अपने व्यक्तिवादी दृष्टिकोण के कारण स्वार्थ की इस प्रवृत्ति का पूरा प्रतिनिधित्व करती प्रतीत होती है। उसकी स्वार्थ–भावना मानवता की समस्त सीमाओं का उल्लंघन कर देती है। अपनी स्वार्थ–पूर्ति हेतु कभी वह सौतेली माँ की भूमिका में आकर भीष्म जैसे कर्त्तव्य–परायण पुत्र की पूर्णतः उपेक्षा कर उसे दूर पटक देती है, लेकिन आवश्यकता पड़ते ही वह उसे गले लगाने के लिए तत्पर दिखाई देती है। 'महासमर' का धृतराष्ट्र भी स्वार्थ का जीता–जागता प्रतिरूप है। स्वार्थ से परिचालित होने के कारण कोई भी मानवीय आदर्श व्यावहारिक रूप में उसे स्वीकार्य नहीं है। समस्त मानवीय मूल्यों को ताक पर रख कर निजी स्वार्थ हेतु अपने ही भतीजों की हत्या का समर्थन करने लगता है। उसका पुत्र दुर्योधन भी स्वार्थ–भावना से प्रेरित है। अपने अनुचित स्वार्थ एवं महत्वाकांक्षाओं की पूर्ति में संलग्न रहकर ही अन्ततः वे पिता–पुत्र महाभारत जैसे भीषण युद्ध का कारण बनते हैं।

नरेन्द्र कोहली ने समाज में फैले स्वार्थ को गहराई तक पहचान कर उसको समाज के सामने उघाड़कर रख दिया है और अन्ततः उन्होंने दुर्योधन के कुत्सित अन्त के माध्यम से इसके बढ़ते प्रभाव तथा दुष्परिणामों को चित्रित कर समाज को सचेत भी कर दिया है। वस्तुतः कोहली एक स्वार्थ विहीन समाज की कामना करते हैं। कोहली की मानसिकता को उद्घाटित करते हुए युधिष्ठिर का कथन है– "तुच्छता, संकीर्णता और मूर्खता का नाम है–स्वार्थ। स्वार्थ अन्ततः अहितकर ही होता है..... इसलिए हमारा हित भी इसी में है और स्वार्थ भी कि हम स्वयं को विराट मानव–जाति का अंग मानें। उस सम्पूर्ण मानव जाति के हित में सोचें और कर्म करें। प्रत्येक मनुष्य अपने तुच्छ स्वार्थों को छोड़, मानव–जाति के व्यापक हित में काम करेगा, तो प्रत्येक मनुष्य सुखी होगा और यह लोक भी, देवलोक के समान सुख और आनन्द से भरा–पूरा हो जाएगा।[2]

आधुनिक सभ्यता ने संस्कृति के आदर्श रूप का अपने में लोप कर लिया है जिससे विकृत एवं कुंठित भावनाएँ मानव–चेतना का परिचालन कर रही हैं, जिसके परिणामस्वरूप आधुनिक मानव अपनी परिस्थितियों से जूझता हुआ अन्ततः निराशा, पीड़ा और पराजय का अनुभव करता है। शशि जेकब कुंठा के मूल कारणों का विश्लेषण करती हुई लिखती हैं – "अतृप्ति एवं असन्तोष कुंठाओं को जन्म देते हैं। प्रत्येक व्यक्ति के भीतर असंख्य प्रकार की इच्छाएँ–आकांक्षाएँ बनी रहती हैं, जो अवचेतन में सुप्तावस्था में पड़ी रहती हैं। यह इच्छाएँ, आकांक्षाएँ मरती कभी नहीं, उपयुक्त अवसर की प्रतीक्षा करती रहती हैं। अनुकूल अवसर मिलते ही ये करवट लेकर जाग्रतावस्था में प्रविष्ट हो जाती हैं।"[3]

सत्यवती की कुंठा का कारण उसकी यही दमित कामनाएँ हैं। पति के रूप में मनचाहे प्रेमी के विपरीत एक कामलोलुप वृद्ध को पाकर सत्यवती कुंठित होकर अप्रत्यक्ष रूप से समूचे कुरुवंश के विनाश का कारण बनती है। इसी प्रकार जन्मांध की कुंठा ने धृतराष्ट्र से उदारता और दया जैसे मानवीय गुण छीन लिए हैं। स्वार्थ और पाखण्ड उसके व्यक्तित्व के प्रमुख तत्व बन गए हैं। सत्य है कि ईर्ष्या भी जब सीमा का अतिक्रमण कर जाती है तो कुंठा में परिवर्तित हो जाती है। अपनी आकांक्षाओं की पूर्ति न होने पर व्यक्ति में 'काम्पलेक्स' आ जाता है। दुर्योधन और कर्ण वस्तुतः इसी ईर्ष्या से उत्पन्न कुंठा के शिकार हैं।

द्वन्द्व एक ऐसी भावात्मक दशा है जो इच्छाओं की पूर्णता और अपूर्णता के बीच की स्थिति है। यह प्राणी और पदार्थ के बीच दीर्घकालीन मानसिक दबाव है जिसे प्रत्येक व्यक्ति किसी–न–किसी रूप में भोगता है और इसकी कसक भीतर–ही–भीतर उसे सालती रहती है। करूँ या न करूँ, होना चाहिए अथवा नहीं होना चाहिए, यह उलझी हुई मनोदशा ही द्वन्द्व है। 'महासमर' उपन्यास में भीष्म के माध्यम से आधुनिक मानव की मानसिक द्वन्द्व की अवस्था का चित्रण है। पिता की प्रतिज्ञा से बद्ध उनका तन–मन और आत्मा व्याकुल एवं प्रताड़ित है। विवेक उनका साथी है जो द्वन्द्व की स्थिति में उन्हें स्थिर बनाए रखता है। न चाहते हुए भी उन्हें अपने मन के द्वन्द्वों से उबर कर माता सत्यवती के अनुचित आदेशों का पालन करना पड़ता है। उनका अपना द्वन्द्व मुखर होकर उनके समक्ष उपस्थित हो जाता है– "उन्हें लगा कि उनके मन में सदा स्वार्थ और परमार्थ, लोभ और वैराग्य, ग्रहण और त्याग का संघर्ष चलता रहा है। वे सदा परमार्थ, त्याग और वैराग्य का पक्ष लेते रहे, किन्तु माता सत्यवती की प्रवृत्ति सदा ही स्वार्थ, लोभ और ग्रहण की ओर रही–और भीष्म को लगता था कि जैसे उनके अपने ही मन का द्वन्द्व उनके और माता सत्यवती के रूप में शरीर धारण कर संघर्ष कर रहा था.....।"[4]

काशिराज की कन्याओं के हरण के समय, द्यूतसभा के अवसर पर, युद्ध के समय और इसी तरह के अनेक अवसरों पर भीष्म का द्वन्द्व मुखर हो उठता है। अपने द्वन्द्व के कारण ही वे कभी भी धर्म और न्याय के प्रतीक पांडवों का पक्ष नहीं ले पाए और फलतः अन्याय और पापाचार ही उनके संरक्षण में पोषित होता रहा। अन्ततः 'प्रत्यक्ष' उपन्यास में युधिष्ठिर के सम्मुख अपने इस द्वन्द्व को स्वीकारते हैं– "मैं सारा जीवन ऐसा ही रहा हूँ पुत्र! मेरी इच्छाएँ, कामनाएँ, मेरा चिन्तन– इन सबके विरुद्ध रहा है मेरा कर्म। ..... मेरा जीवन तो द्वन्द्वों का पुंज रहा है पुत्र !"[5]

सच तो यह है कि भीष्म अन्तर्विरोधों से ग्रस्त हैं जो किसी भी निर्णय को न ले सकने की स्थिति में मूल्यहीन सन्दर्भों को प्रकट करते हैं। भीष्म के अन्तर्द्वन्द्व को और अधिक स्पष्ट शब्दों में व्याख्यायित करते हुए कोहली महाभारत के विवेचनात्मक अध्ययन 'जहाँ है धर्म, वहीं है जय' में लिखते हैं – "वस्तुतः भीष्म सदा ही अपने द्वन्द्वों के बन्दी रहे हैं। कभी भी द्वन्द्व छोड़कर एक ओर हो जाने की क्षमता वे जुटा नहीं पाए। इसलिए वे न स्पष्ट रूप से कोई निर्णय ले पाए और न कर्म में अग्रसर ही हो पाए।"[6]

भीष्म की भाँति ही युधिष्ठिर, अर्जुन, द्रोण, बलराम व कर्ण आदि पात्र भी अनेक स्थलों पर द्वन्द्वग्रस्त दिखाई देते हैं।

व्यक्तिगत अहं की भावना आधुनिक युग में बलवती होती जा रही है। "मैं भी कुछ हूँ" की भावना स्त्री एवं पुरुष वर्ग, दोनों में ही पनपती जा रही है। सत्य तो यह है कि अहं व्यक्ति के विवेक को कुण्ठित कर देता है। 'महासमर' का केन्द्रीय पात्र भीष्म दो पीढ़ी पुराना, अपनी ही मान्यताओं में आबद्ध एक ऐसा द्वन्द्वग्रस्त पात्र है जो पितृ–भक्ति के लिए की गई अव्यावहारिक प्रतिज्ञा–पालन के अहं की तुष्टि में ही अपना धर्म देखता है। दुर्योधन, कर्ण, द्रोण और बलराम आदि पात्र भी अपनी अहं–भावना से प्रेरित होकर अधर्म के कुमार्ग पर अग्रसर हैं।

आधुनिक स्वार्थी बुद्धिजीवी वर्ग के साक्षात् प्रतिरूप द्रोण का चरित्र भी अहं–भावना से ओत–प्रोत है। अपने अहं की सन्तुष्टि हेतु श्रेष्ठ धनुर्धारी एकलव्य का अँगूठा कटवा लेना वस्तुतः मानवीय मूल्यों की निकृष्टता का प्रतीक है – "वह यह सिद्ध कर रहा था कि द्रोण के सिखाए बिना भी कोई संसार का श्रेष्ठ धनुर्धारी हो सकता है। जिसका मैंने तिरस्कार किया, जिसे मैंने शिक्षा नहीं दी, वह मेरे शिष्य से अच्छा धनुर्धर प्रमाणित हो जाए, तो फिर मेरे चयन और मेरे प्रशिक्षण का अर्थ ही क्या रह गया?"[7]

आज स्थिति यह है कि जीवन के कठोर यथार्थ से टकराकर व्यक्ति भीतर–ही–भीतर टूटता जा रहा है। वर्तमान से असन्तुष्टि और भविष्य की अनिश्चितता ने व्यक्ति के मन में गहरी निराशा पैदा कर दी है। व्यक्तियों के पारस्परिक सम्बन्धों में विघटन के कारण सर्वत्र निराशा की एक काली छाया फैल रही है। हस्तिनापुर के चक्रवर्ती वीरवर शान्तनु अतीत की स्मृतियों में लीन और भविष्य के प्रति अत्यन्त चिन्तित अवस्था में हैं। वे अपने मन में अनेक तरह से सोच–विचार कर रहे हैं। शान्तनु की असीम निराशा का मूल कारण मनोवैज्ञानिक दृष्टि से विद्यमान स्थिति में अपने साम्राज्य का ही लोभ न होकर उन प्राचीन घटनाओं का दुख भी है, जो गंगा से सम्बद्ध हैं। गंगा के त्याग कर चले जाने पर शान्तनु पूर्ण निराशा की स्थिति में सत्यवती रूपी अवलम्ब को पाने की लालसा करते हैं। अपनी इस अनैतिक इच्छा की पूर्ति होने पर भी वे सन्तुष्ट न होकर निराश ही होते हैं। सत्यवती के सम्मुख अपनी निराशा को व्यक्त करते हैं– "इस प्रकार समझ लो कि जिस स्त्री की मैंने अपनी पहली पत्नी के रूप में आकांक्षा की थी, वह मुझे मिल तो गई, किन्तु उससे दाम्पत्य–सुख नहीं मिला। ..... अब दूसरी बार जिसकी आकांक्षा की, वह भी मिल गई, किन्तु उसे शायद मैं दाम्पत्य–सुख दे न पाऊँ।"[8]

वस्तुतः आशा और निराशा मानव–जीवन के दो पहलू हैं। प्रत्येक युग का मानव आशा के सहारे ही प्रगति के पथ पर अग्रसर हो सकता है। इसी तथ्य को उद्घाटित करते हुए कोहली लिखते हैं– "..... निराशा तो जीवन में कई बार आती है ..... कौन ऐसा मनुष्य है जिसके जीवन में कभी निराशा न आई हो। पर उस निराशा को जीवन की पूँजी के रूप में वक्ष से चिपकाकर तो नहीं बैठ जाना चाहिए। उसे जीवन से बाहर ठेलने का प्रयत्न ही तो मनुष्य का जीवन–संघर्ष है। ..... निराशा को जीवन से निकाला जाएगा, तो उसमें जो शून्य बनेगा, वह रिक्त नहीं रहेगा– आशा आकर उसमें डेरा डालेगी।"[9]

निष्कर्ष

यह कटु सत्य है कि आधुनिक वैज्ञानिक युग में बेकारी, आत्मग्लानि व अकेलेपन ने व्यक्ति को असहाय और विवश बना दिया है। आज का मनुष्य द्वन्द्वग्रस्त हो कर दोहरा जीवन जीने के लिए बाध्य है। रोटी, कपड़ा और मकान मनुष्य की आधारभूत आवश्यकताएँ हैं। आधुनिक मानव इन आधारभूत आवश्यकताओं की पूर्ति द्वन्द्वात्मक स्थिति में करता दिखाई देता है। नयी अनुकूलताओं को पाना तथा नई तनावपूर्ण स्थितियों का सामना करना आज के मानव की सबसे बड़ी समस्या है। वस्तुतः परिवर्तित होता परिवेश, जीवन के टूटते–बिखरते मूल्य, बनते–बिगड़ते रिश्ते, पारिवारिक–सामाजिक समस्याएँ जब व्यक्ति के जीवन में रच–बस जाती हैं तो वह अन्तर्द्वन्द्व में फँस जाता हैं। नरेन्द्र कोहली के अनेक पात्र ऐसे ही द्वन्द्वग्रस्त आधुनिक मनुष्यों के प्रतिरूप है। सत्य तो यह है कि पौराणिक पात्रों को आधार बनाकर आधुनिक मानव की घुटन, व्यथा व निराशा को ही प्रस्तुत किया गया है।

सन्दर्भ ग्रन्थ–सूची

1. *शशि जेकब, महिला उपन्यासकारों की रचनाओं में वैचारिकता, जवाहर पुस्तकालय, मथुरा, 1989, पृ0 23*
2. *नरेन्द्र कोहली, अंतराल, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2000, पृ00 27*
3. *शशि जेकब, महिला उपन्यासकारों की रचनाओं में वैचारिकता, जवाहर पुस्तकालय, मथुरा, 1989, पृ0 240*
4. *नरेन्द्र कोहली, कर्म, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 1992, पृ0 33*
5. *वही, प्रत्यक्ष, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2000, पृ0 453*
6. *वही, 'जहाँ है धर्म, वहीं है जय', वाणी प्रकाशन, दिल्ली, 1993, पृ0 178*
7. *वही, निर्बन्ध, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2000, पृ0 9*
8. *वही, बंधन, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2000, पृ0 71*
9. *वही, पृ0 237*